शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
17 नवम्बर 2016
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

प्रेम जनमेजय के व्यंग्य साहित्य में राजनीतिक संदर्भ

साधना झा (शोधार्थी)
सेंट जेवियर कॉलेज
कोलकाता, बंगाल, भारत

शोध संक्षेप

आधुनिक मानवीय समाज राजनीति केंद्रित है। संपूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक परिवेश में राजनीतिक गतिविधियां तरंगित रहती हैं। साहित्यिक परिवेश भी इससे अछूता नहीं रहा है। साहित्यकार अंतत: सामाजिक परिपार्श्व में राजनैतिक जीव ही तो है। वह अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों से निरपेक्ष नहीं रह सकता है। समाज में अनेकानेक विसंगतियां व्याप्त हैं। इन विसंगतियों को साहित्यकार व्यंग्य के माध्यम उजागर करता है। एक व्यंग्यकार के लिए राजनीतिक विसंगितियाँ कच्चे माल का काम करती हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में व्यंग्यकार प्रेम जन्मेजय के व्यंग्य साहित्य में राजनीतिक सन्दर्भ पर विचार किया गया है।

प्रस्तावना

यह सच है कि जनता के जीवन को सुंदर और उन्नत बनाने के लिए राजनीति का विकास हुआ है। यही कारण है कि विकासशील देश में राजनीति को साहित्य से अलगाया नहीं जा सकता है। इस ओर संकेत करते हुए विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि, "उठती हुई जनता का साहित्य अनिवार्यत: एक बड़े अंश में राजनीति से प्रभावित होगा, इसलिए कि राजनीति जनता के उत्थान का आवश्यक माध्यम है।"[1] जनता के उत्थान के आवश्यक माध्यम से साहित्यकार अनिवार्यत: प्रभावित होगा, क्योंकि वह समाज के प्रति प्रतिबद्ध होता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत का समाज अत्यंत तेजी के साथ परिवर्तित होने लगा। परिवर्तन की दिशा के फैलाव ने राजनीति से लेकर शिक्षा तक को अपने में समेट लिया। राजनीतिक गतिविधियों में तीव्र परिवर्तन ने लोगों को विचलित कर दिया। नीतिहीन राजनीति ने अनेक विसंगतियों को जन्म दिया और यहां सही आदमी को प्राय: हर दिशा में गलत साबित करने की साजिशें होने लगीं। इस विसंगति को आंकने का प्रयास व्यंग्यकारों ने अपने व्यंग्य साहित्य में किया। इस ओर संकेत करते हुए डॉ. छेदी साह ने लिखा है कि "आजादी के दोरंगेपन के कारण साहित्य का तेवर व्यवस्था-विरोधी हो गया। अंग्रेजों का स्थान कांग्रेसियों ने ले लिया। दमनचक्र पहले से कहीं तेज हो गया। साहित्यकार कैसे चुप रहते ? अभिव्यक्ति होने लगी, गद्य और पद्य दोनों माध्यमों से।"[2] ए. एन. चंद्रशेखर रेड्डी ने भारतीय राजनीति के इस विषम परिवेश का चित्रण इन शब्दों में किया है. "स्वतंत्रता के पश्चात् भारत का इतिहास कई अकल्पनीय और विलक्षण मोड़ों से होकर गुजरा है। 'रामराज्य' का मोह, मोहभंग और दारुण विभीषिका व विद्रूपता का साक्षात्कार इस दौरान भारतीय चेतना के विकास के सोपान रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारतीय जीवन में राजनीति का वही स्थान बन गया है जो मध्यकाल में धर्म का था। आज जीवन का कोई क्षेत्र निजी किंवा सामाजिक, ऐसा

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
17 नवम्बर 2016
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

नहीं रह गया है जो राजनीतिकरण की प्रवृत्ति के प्रभाव से मुक्त हो।"[3]

वस्तुत: आज जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र बचा ही नहीं है, जहां राजनीति का अवांछित प्रवेश न हुआ हो और राजनीति भी ऐसी जो नितांत सिद्धांतविहीन, आदर्शहीन, भ्रष्ट, अवसरवादिता से कलुषित, बौद्धिक दृष्टि से बौनी, नैतिकता से शून्य है। डॉ. छेदी साह का कहना है कि, "साहित्य कैसे अछूता रह सकता है राजनीति से, जब जनता का सर्वस्व राजनैतिक फैसले पर ही आधारित रह गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेसी सत्ता से असंतुष्ट जनता की अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्यकारों की जिम्मेदारी बन गयी।"[4] मुक्तिबोध ने भी लिखा है कि "ध्यान रखने की बात है कि एक कला सिद्धांत के पीछे की दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन दर्शन के पीछे आजकल के ज़माने में एक राजनीतिक दृष्टि भी रहती है"।[5]

'साहित्य और राजनीति' पर विचार प्रकट करते हुए सव्यसाची ने कहा है कि "यदि साहित्य मानव जीवन और मानव समाज का प्रतिनिधित्व करता है तो उसका राजनीति से अलगाव संभव नहीं है"।[6] यही कारण है कि हरिशंकर परसाई ने लेखक की राजनीतिक प्रतिबद्धता को स्पष्ट करते हुए लिखा "कोई लेखक अराजनैतिक नहीं हो सकता है। जो अराजनैतिक होने का दावा करते हैं, उनकी राजनीति बड़ी खतरनाक और गंदी है"।[7] जार्ज आर्वेल ने भी साहित्य में राजनीति की उपस्थिति को महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि उनका कहना है कि इसके अभाव में रचना प्रभावी नहीं बन पाती है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने वर्तमान समय में राजनीति को धर्म से अधिक शक्तिशाली माना है। उन्होंने 'आलोचना के हाशिए' में लिखा है कि "भ्रष्टाचार और अपराध वृद्धि में भी सबसे मजबूत हाथ राजनीतिक सत्ता का ही है। धर्म और धार्मिक संस्थाओं की ताकत अब समाप्त हो चुकी है। जिन लोगों का समाज में वर्चस्व है, वे धर्म से नहीं, राजनीति से जुड़े हैं। आज मनुष्य को नियंत्रित-संचालित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति धर्म नहीं, राजनीति है।"[8] आज जब राजनीति का दबाव समाज पर निरंतर बढ़ता ही जा रहा है, तो साहित्य में उसके अस्तित्व को कैसे नकारा जा सकता है। जैसा कि ओम प्रकाश कश्यप का कहना है कि "व्यंग्य का राजनीति और भ्रष्टाचार केंद्रित होना बुरी बात नहीं है। कूड़ा-करकट जहां हो, वहीं सफाई की जरूरत पड़ती है। ऐसी अवस्था में प्रस्तुतीकरण का रचनापन व्यंग्य की मौलिकता को बढ़ा सकता है।"[9] शेरजंग गर्ग ने भी माना है कि राजनीति व्यंग्य साहित्य के लिए उर्वर साबित हुई है। उन्होंने 'व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न' में लिखा है "राजनीतिक विसंगतियां व्यंग्य के लिए असीम उर्वर भूमि मुहैया कराती हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि हिंदी साहित्य में पाया जाने वाला अधिकांश व्यंग्य भारतीय राजनीति के विभिन्न पक्षों को अपनी सीमाओं में कमोबेश उजागर करता रहा है।"[10]

जीवन का अर्थ खोजने वाला साहित्यकार अपने आपको राजनीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों से कहां तक असम्पृक्त रख सकता है। बरबस उसकी दृष्टि राजनीतिक मठों पर पड़ ही जाती है। वैसे भी आज का प्रबुद्ध साहित्यकार चाह कर भी राजनीति से कन्नी नहीं काट सकता, क्योंकि आज का जीवन राजनीति द्वारा संचालित है। यही कारण है कि अपने समय की राजनीतिक घटनाओं के साक्षी प्रेम जनमेजय को संवेदनात्मक धरातल पर बेचैनी महसूस होती रही

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
17 नवम्बर 2016
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

है और उन्होंने इन विसंगतियों को सामने लाने के लिए व्यंग्य की रचनात्मक प्रयोजनीयता को महत्व दिया है। प्रेम जनमेजय ने देश के राजनीतिक परिदृश्य को विभिन्न संदर्भों में देखा है और अपने व्यंग्य साहित्य में उसका प्रलेखीकरण (डाक्युमेंटेशन) करने का प्रयास किया है। उन्होंने देश की तत्कालीन राजनीति की विसंगतियों लूट, शोषण, भाई-भतीजावाद, गुटबाजी, अनैतिकता, अराजकता को अनुभूत ही नहीं किया वरन् इसे अपने साहित्य में पूरी यथार्थता के साथ अभिव्यक्त भी किया।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का मानना है कि राजनीतिक अराजकता के समय लेखक का दायित्व सत्ता के विरोध में खड़ा होना है। उनके ही शब्दों में "राजनीति ही नहीं, जहां - जहां सत्ता है, वहां-वहां लेखक को उसके विरोध में खड़ा होना होगा। चाहे वह कोई व्यक्ति हो, सरकार हो, पूंजीवाद हो, धर्म हो, विचारधारा हो या स्वयं ईश्वर ही क्यों न हो। लेखन एक शाश्वत सत्ता विरोध का नाम है।"[11]

प्रेम जनमेजय के साहित्य में व्यंग्य

प्रेम जनमेजय ने अपनी लेखनी का प्रयोग शाश्वत सत्ता विरोध के पक्ष में करते हुए राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों का उद्घाटन किया। वे भारतीय राजनीति की व्याख्या के लिए 'नाई' और 'यजमान' दो शब्दों के प्रयोग के पक्ष में हैं "पूरी भारतीय राजनीति की व्याख्या दो शब्दों में की जा सकती है नाई और यजमान। नाई उसे कहते हैं, जो मूंड़ने में जन्मजात सिद्धहस्त होता है और यजमान उसे कहते हैं, जो यह जानते हुए भी कि वह मूंड़ा जा रहा है, मूंड़ता है।"[12] उन्होंने 'मेरे तो गिरधर गोपाल' व्यंग्य रचना में राजनीति और धर्म में अंतर बताते हुए राजनीति को स्वार्थ चालित रिश्तों से जुड़ा हुआ कहकर कटाक्ष किया तथा अपनी लेखनी का प्रयोग शाश्वत सत्ता विरोध के पक्ष में करते हुए राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों का उद्घाटन किया है "राजनीति और धर्म में यही तो अंतर है। राजनीति में गधे को भी बाप बनाया जा सकता है परंतु धर्म में मां-बाप, भाई-बहन, पति-पुत्र सब माया और मोह होते हैं"।[13]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय राजनीति ने प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली को अपनाया। प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली में प्रत्येक वयस्क नागरिक को योग्यताएं पूरी होने पर चुनाव लड़ने का अधिकार है और साथ ही यह भी अधिकार मिला हुआ है कि वह अपने मतदान का सही उपयोग करके योग्य प्रतिनिधि का चुनाव करें। प्रेम जनमेजय ने 'सो कर पाने का सुख' व्यंग्य में इस लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "भारतीय प्रजातंत्र की तो परिभाषा ही यह है चुनाव जीतो और संसद में जाकर सो जाओ। जो जितना अधिक सोता है, उसे उतनी कम जनता की आवाज सुनाई देती है, उतना ही वो संसद भवन का लाभ उठा पाता है तथा उतना ही वो सुखी रह पाता है।"[14] उन्होंने 'गणतंत्र-दिवस के बाद' व्यंग्य में भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए व्यंग्य किया है कि "जिस देश में लाखों लोग किसी बात का समर्थन करें वहां प्रजातंत्र होता है। हमारे देश में प्रजातंत्र है। इसलिए ये बच्चे इसी तरह नंग-धड़ंग रहेंगे और गटर में से चावल बीनकर, सभ्य मानव की तरह धोकर उन्हें खाते रहेंगे"।[15]

भारतीय राजनीति में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक सर्वाधिक प्रचलित और सार्थक शब्द 'भ्रष्टाचार' ही है। स्वतंत्रता के पश्चात् विकासात्मक योजनाओं की तरह ही या यों कहें

कि उससे भी कहीं अधिक तीव्रगति से भ्रष्टाचार अपनी जड़ें मजबूत करता हुआ बरगद के पेड़ के समान सम्पूर्ण देश में अपनी जड़ें फ़ैला दिया। देश की विकास-योजनाओं के लिए आवंटित अधिकांश धन इन भ्रष्टाचारियों के भूख मिटाने में लग जाते हैं। 'चरण-चिह्नों पर' कहानी में प्रेम जनमेजय ने राजनीति की धन-नीति पर व्यंग्य किया है "वत्स! लगता है भारतीय राजनीति की के. जी. परीक्षा भी तुमने उत्तीर्ण नहीं की है। जैसे दुआएं करके भीख में धन प्राप्त होता है, वैसे ही राजनीति की भीख में नोट देकर वोट प्राप्त होते हैं। आजकल के विभीषण भक्ति में नहीं धन-शक्ति में विश्वास रखते हैं।"[16] उन्होंने 'अरे, सुन ओ सांप' व्यंग्य में राजनीति को कमाई का ऐसा साधन माना है, जहां पढाई-लिखाई का कोई महत्व नहीं होता है "आजकल ऊपरी कमाई का सबसे श्रेष्ठ साधन राजनीति है। नौकरी के लिए तो पढ़ा लिखा होने की शर्त होती है, इसके लिए वह भी नहीं।"[17]

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में दल-बदलने की नीति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि बहुमत चाहनेवाली पार्टी को इनका ही भरोसा होता है। इसलिए स्वतंत्र भारत में दल-बदल का सत्ता को कायम रखने या गिराने के लिए एक प्रभावी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। प्रेम जनमेजय ने 'बीच का मौसम' निबंध में दल-बदलने वाले नेताओं को 'बीच का लोग' कहकर व्यंग्य किया है "ये आप के पास जाते हैं, वायदे करते हैं, आश्वासन देते हैं। आपको अपने दल की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक नीतियां समझाते हैं। दूसरे दल को गालियां देते हैं। आप उनकी बात समझते हैं और अपना समर्थन देते हैं। वे चुनाव जीत जाते हैं। परन्तु मंत्रिमंडल में नहीं आ पाते हैं। वे करवट बदलते हैं। जिस दल को गालियां दे रहे थे उसका समर्थन करते हैं और जिसका समर्थन कर रहे थे उसे गालियां देते हैं।"[18]

आज भारतीय राजनीति के क्षेत्र में आदर्श और नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं बचा है। किसी तरह सत्ता के माध्यम से पैसा बनाना ही आजकल की राजनीति और राजनीतिज्ञों का एकमात्र लक्ष्य रह गया है। प्रेम जनमेजय ने 'गणतंत्र-दिवस के बाद' में इस विसंगति पर तिक्त व्यंग्य किया है "हे वत्स! राजनीति में कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं होता। सबको शत्रु समझो और सबको मित्र मानो। जो जिस क्षण तुम्हारी सहायता कर रहा है उन्हीं क्षणों का वह मित्र है। राजनीति में आने से पहले अपने शब्दकोश में से 'नैतिकता' शब्द हटाकर फिर राजनीति में घुसो। स्वाभिमान को गहरी नींद में सुला दो और चरण-चिन्हों पर ध्यान दो। जैसे सबका भला हुआ है, तुम्हारा भी होगा।"[19] उन्होंने लिखा है कि "एक समय था, सांप आस्तीनों में पला करते थे। जब आम जनता को इसकी पहचान हो गई तो उन्होंने संसद के एयरकंडीशंड उपवन में मुक्त भाव से सांपिनों के साथ विचरण करते हैं।"[20]

सफेदपोशी लूट-खसोट की कला में डाकू और मुनाफाखोर व्यापारी तक राजनीतिज्ञों के आगे पानी भरते नजर आते हैं। ये नेता कहते कुछ और हैं, करते कुछ और, साथ ही अपने स्वार्थपूर्ति के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। आजादी के बाद सत्ता की होड़ में विजयी यह वर्ग प्रत्येक रचनाधर्मी, प्रतिबद्ध व्यंग्यकार के व्यंग्य का लक्ष्य बना। प्रेम जनमेजय ने 'मंत्रिक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे' व्यंग्य में नेताओं के इस दोहरे व्यक्तित्व पर कटाक्ष करते हुए उन्हें दो मुंहें सांप कहकर संबोधित किया है "हे संसदे, तुम्हारी शंका निरर्थक है। क्योंकि मंत्री का व्यक्तित्व दो-मुंहें

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
17 नवम्बर 2016
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

सांप की भांति जाना जाता है। वह एक मुंह से चारण बन कर पूंजीपतियों के प्रशंसा-गीत गाता है और दूसरे मुंह से समाजवाद लाने के वायदे करता है। अत: तुम भी ऐसा करके अपनी शंका दूर करो।"[21]

लोक कल्याण को लक्ष्य करके सामने आई राजनीति दुर्भाग्यवश नेताओं के संकीर्ण व निहित स्वार्थों की रक्षा का साधन बनकर रह गई। यद्यपि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और नयी शासन-प्रणाली लोकतंत्र के रक्षक के रूप में लोगों के सामने आयी, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे इसका भक्षक बन गए। इसीलिए प्रेम जनमेजय ने 'चरण-धूल' व्यंग्य में नेताओं को योगी कहकर चुटकी ली है "योगी ब्रह्म की साधना करता है तो मंत्री मंत्री-पद की। योगी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए भूख-प्यास सब त्याग देता है तो मंत्री अपने पद के लिए लाज-शर्म सब छोड़ देता है।"[22]

चुनाव के समय नेता कभी दीन-हीन बनकर तो कभी हेकड़ी से जनता के वोट को हथियाने की कोशिश करते हैं और फिर सत्ता में आकर उसी को लतियाते और दुत्कारते हैं। व्यंग्यकारों ने इन पर तीखे व्यंग्यात्मक प्रहार किए हैं। प्रेम जनमेजय ने चुनाव को 'इन्वेस्टमेंट' कहकर कटाक्ष किया है "चुनाव तो लड़ा ही इसलिए जाता है कि चुनाव के समय इन्वेस्ट करो। हार जाओ तो अगली बार जीतने की इच्छा से हानि सहो और जीत जाओ तो दोनों हाथों से लाभ कमाओ, तो अब कहें कि ऐसे में प्रभु की हानि होगी तो कौन जन्म लेगा ?"[23]

भारतीय नेता कुर्सी प्राप्त करने के लिए किसी भी सीमा तक गिर सकते हैं। दरअसल राजनीति में कुर्सी को बहुत प्रमुखता प्राप्त है क्योंकि धन तक पहुंचने के तमाम रास्ते यहीं से शुरू होते हैं और यहीं आकर समाप्त हो जाते हैं। प्रेम जनमेजय ने राजनीति की इस भ्रष्ट कुर्सी नीति की बखिया बखूबी उधेड़ी है। उन्होंने 'मेरे तो गिरधर गोपाल' व्यंग्य में नेताओं के कुर्सी प्रेम पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि "सभी राजनीतिज्ञों का एक ही गिरधर होता है, श्रीमान और वह है कुर्सी! आप तो धार्मिक हैं, जानते हैं कि जो दिखाई देता है, वह माया है अर्थात् नहीं है । इसी प्रकार राजनीतिज्ञों के जो गिरधर दिखाई देते हैं। वह माया के कारण भाषित होते हैं परन्तु उनका असली गिरधर तो कुर्सी है।"[24]

भारतीय समाज में चरण पड़ने की प्रथा है अर्थात् लोग बड़ों के चरण पड़कर आशीर्वाद लेते हैं परंतु भारतीय राजनीति में चरण पकड़ने की प्रथा है, जिससे लोग अनेक प्रकार से लाभांवित होते हैं। प्रेम जनमेजय ने 'मेरे तो गिरधर गोपाल' में आज के नेताओं के विषपान की क्षमता और अवसरवादिता पर कटाक्ष किया "वैसे भी तुम्हारा सिद्धांत न काहू से दोस्ती और न काहू से वैरवाला है। इसी को तो आजकल राजनीति कहते हैं। जो सत्ता-प्राप्ति में सहायक हो, वह मित्र और जो थोड़े रोड़े अटकाए, वह शत्रु। और प्रजातंत्र का जादू देखा, कभी शत्रु मित्र हो जाता है और मित्र शत्रु।"[25]

आजादी मिलने के बाद भारतीय राजनीति में जातिवादी भावना तूल पकड़ने लगी। स्वतंत्र भारत देश के स्वतंत्र नागरिकों को जातिगत बंधन में बांधने की कुत्सित राजनीति फलित हुआ। वोट की मांग जातिवाद के आधार पर की जाने लगी। प्रेम जनमेजय ने 'चारा और बेचारा' व्यंग्य में जातिवादी राजनीति के स्वरूप का उद्घाटन किया है "आज भी हमारे देश में जब भी चुनाव होते हैं तो लाल, पीली, हरी, भगवा आदि सभी पार्टियां इस बात का समीकरण जमाती हैं कि जाट बहुल क्षेत्र से जाट, मुसलिम

बहुल क्षेत्र से मुसलिम आदि ही चुनाव में खड़े हों और अपनी जाति के आधार पर चुने जाने के बाद जनता का कम, अपना और पार्टी का हित अधिक करें।"[26] उन्होंने 'जाति ही पूछो साधु की' व्यंग्य में चुनाव जीतने के लिए जातिवादी विचारधारा को महत्व देने वाले राजनीतिज्ञों पर तीक्ष्ण प्रहार किया है, "प्रभु आजकल तो बिना साधु और जाति के चुनाव लड़ना सरल तो है, पर जीतना संभव नहीं है। जाति के विरोध में प्रगतिशील विचारधारा चुनाव के क्षेत्र में गायब हो जाती है। पार्टी ने मुझे आपके चुनाव क्षेत्र से लड़ने का टिकट दिया है, मैं समाज के जातिगत समीकरण को तो समझ गया हूं, परन्तु आपके जातिगत समीकरण को नहीं जान पाया हूं, मेरी रक्षा करें।"[27] 'प्रभु दौरे पर' व्यंग्य में महाराष्ट्र में पनपने वाली क्षेत्रीयतावादी राजनीति पर करारा व्यंग्य किया गया है "प्रभु बूढ़ी माता को जानने से कुछ नहीं होता, वो तो बोझ होती है और नवनिर्माण में बाधक होती है। महाराष्ट्र में एक सेना का जन्म हुआ है, जिसने महाराष्ट्र के नवनिर्माण का बीड़ा उठाया हुआ है और उसका दावा है कि महाराष्ट्र का निर्माण केवल महाराष्ट्र के लोग ही कर सकते हैं। ऐसे में आप जैसे उत्तर भारतीयों को महाराष्ट्र निकाला होना चाहिए।"[28]

व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय में राजनीतिक विचारधारा बहुत स्पष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में लेखकीय प्रतिबद्धता वैचारिक पक्षधरता से अधिक महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'विचारधारा आवश्यक है, परन्तु उनकी गुलामी अनावश्यक'। वस्तुत: जहां प्रगतिशील विचारधारा लेखक को सूक्ष्म अवलोकन शक्ति प्रदान करता है, वहीं दलीय पक्षधरता उसके स्वछन्द चिंतन पर अंकुश लगाता है। उन्होंने अनुभूत किया है कि "यदि आप स्वतंत्र सोच के व्यक्ति नहीं हैं, और लेखक न होकर कार्यकर्ता हैं, तो किसी दल के प्रति प्रतिबद्ध होकर आप दृष्टि बाधित, एकांगी और अनपढ़ भी हो जाते हैं'। यही कारण है कि प्रेम जनमेजय हरिशंकर परसाई की तरह किसी भी राजनैतिक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी व्यंग्य रचनाओं के द्वारा सम-सामयिक जीवन एवं घटनाओं को परिचालित करने वाली पूंजीपति राजनीति के घिनौने चरित्र और उससे उत्पन्न विसंगतियों और उन विसंगतियों के बीच पिस रहे आम आदमी के दुख-दर्द को जीवंतता के साथ अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में बेहतर मनुष्य और बेहतर समाज के निर्माण की लेखकीय छटपटाहट है। उन्होंने व्यंग्य को सीमित वैचारिक प्रतिबद्धता के कटघरे से निकालकर विराट फलक प्रदान किया तथा व्यंग्य को समाज के प्रत्येक वर्ग से जोड़ने का प्रयास किया है। उनके लेखन का उद्देश्य है सामाजिक जीवन में व्याप्त जड़-बाधाओं को समाप्त कर, लोगों का आत्मिक विकास करना तथा व्यंग्य रूपी 'जनवादी हथियार' द्वारा 'वर्तमान विसंगतियों पर प्रहार' करना, ताकि बेहतर समाज का निर्माण हो सके।

निष्कर्ष

किसी समाज और राष्ट्र के लिए विसंगतियों की उपस्थिति निश्चय ही उस व्यवस्था और समाज की उपलब्धि के रूप में नहीं आंकी जा सकती, इसीलिए व्यंग्यकार अपने व्यंग्य साहित्य में इस बुराई को तिक्तता के साथ व्यक्त करता है। व्यंग्यकार का उद्देश्य कुछ भी लिख देना भर नहीं होता। वह समाज, राजनीति और यहां तक कि व्यक्ति को भी बदलने के लिए अपनी कलम उठाता है। प्रेम जनमेजय का व्यंग्य साहित्य इसी महत् उद्देश्य के केन्द्र में रचित है। उन्होंने बीसवीं

सदी के आठवें-नौवें दशक के भारत की परिस्थितियों को कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है। कई मायनों में उनकी राजनीतिक चेतना युक्त लेखन उस समय की राजनीतिक दस्तावेज के रूप में अभिव्यक्त हुई है। आज जीवन के हर क्षेत्र में राजनीति ने अपना प्रभुत्व जमा लिया है। यह जीवन में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त है। राजनीति और साहित्य अपने उन्नत रूप में सामाजिक जीवन को सुखमय बनने के उद्देश्य से अनुप्रेरित हैं। स्वतंत्रता-पूर्व भारत में अंग्रेज सत्ताधीश थे। राजनीति के सूत्र अंग्रेजों के हाथ में था और वे इसका प्रयोग जनता को शोषित करने के लिए करते थे। शोषणयुक्त सत्ता के विरोध में व्यंग्य साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। स्वाधीन भारत में जब अपने देश के शासक शोषक के रूप में राजतंत्र का प्रयोग शोषण-तंत्र की तरह करने लगें, तो व्यंग्यकार अपना लोकतांत्रिक विरोध अपने साहित्य के माध्यम से दर्ज करने लगे। राजनीतिक व्यंग्य लिखते समय व्यंग्यकार में तटस्थता और सचेतनता की आवश्यकता रहती है अन्यथा उसका व्यंग्य पार्टी विशेष का प्रचारक बन कर रह जाएगा। यही कारण है कि शोषण-युक्त राजनीति का विरोध करते हुए प्रेम जनमेजय अपने व्यंग्य साहित्य में तटस्थता और सचेतनता के साथ संपूर्ण तंत्र में व्याप्त विसंगतियों का उद्घाटन करते हैं।

दरअसल राजनीति का संस्कार साहित्य से ही हो सकता है, क्योंकि साहित्य समाज को परिवर्तित करने की शक्ति रखता है। राजनीति में न तो बिना धन के काम चल सकना संभव है, न बिना जनता को अपने साथ लिए। अत: चुनाव लड़ने वालों को कहीं-न-कहीं धन और वोट का अद्भुत सामंजस्य भी बैठाना पड़ता है। भारतीय राजनीति में एक ऐसा समय भी आया, जब सुबह को विधायक एक दल में दिखाई देता था, तो शाम होते ही विरोधी दल में जा मिलता था। इस प्रकार की दलबदल की नीतिहीन राजनीति ने अनेक विसंगतियों को जन्म दिया। यह एक संक्रामक रोग की भांति चहुं ओर व्याप्त हो गया है। धीरे-धीरे राजनीतिक क्षेत्र में सही आदमी को प्राय: हर दिशा में गलत साबित करने का प्रयत्न होने लगा। भाई-भतीजावाद का बोलबाला तो राजनीति में प्रारंभ से ही था। इन दिनों जातिवादी राजनीति ही नहीं क्षेत्रीयतावादी राजनीति भी जोर पकड़ रही है। इस देश की विसंगत राजनीति ने नेता को ही नही, मतदाता को भी भ्रष्टाचारी बना दिया है। प्रजातंत्र के लिए खतरा पैदा करने वाले इन तमाम विसंगतियों पर व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय ने अपना आक्रोशपूर्ण विरोध दर्ज किया है। उनका व्यंग्य साहित्य साठोत्तरी राजनीति के विघटन के दारुण स्थिति को अभिव्यंजित करता है। उनके व्यंग्य साहित्य में नेताओं का केरिकेचर नहीं है और न ही वह सतही प्रतिक्रिया है। उनकी राजनीति परक व्यंग्य साहित्य की विशेषता यह है कि वे बिना किसी वैचारिक प्रतिबद्धता के विसंगतियों को उभारते हैं। वे पाठकों में एक राजनीतिक समझ को विकसित करने का प्रयास करते हैं, जिसका लक्ष्य है जनता को यह बताना कि वे केवल सही का साथ दें और गलत का हर हाल में विरोध करें। वे, यह जानते हैं कि राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य एकांगी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है और विवेक पर आक्रमण कर उसे कुंद कर देता है। यही कारण है कि उन्होंने अपने व्यंग्य साहित्य में राजनीतिक छल, नेताओं के दोगलापन, स्वार्थी एवं क्रूर चरित्र, वोट बटोरने की राजनीति, घूसखोरी, विधान सभाओं की जूतम-

पैजार, नेताओं की नीतिहीनता और अवसरवादिता आदि विविध स्तरीय विसंगति, विकृति तथा दोषों का पर्दाफाश किया है।

संदर्भ ग्रंथ

1 साही, विजयदेव नारायण: छठवां दशक, हिंदुस्तान अकादमी, इलाहाबाद, सं.- 2007, पृष्ठ 18

2 साह, छेदी: हिन्दी साहित्य की दिशा तथा अन्य निबंध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2012, पृष्ठ 13

3 रेड्डी, चंद्रशेखर: हिन्दी व्यंग्य साहित्य, शबरी संस्थान, दिल्ली, प्र.सं.- 1989, पृष्ठ 13

4 साह, छेदी: हिन्दी साहित्य की दिशा तथा अन्य निबंध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2012, पृष्ठ 13

5 चौहान, कर्ण सिंह: साहित्य के बुनियादी, अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1992, पृष्ठ 28

6 कुमार, कृष्ण: समकालीन कविता का बीजगणित, वाणी प्रकाशन. दिल्ली, प्र.सं.- 2004, पृष्ठ 22

7 प्रसाद, कमला: आंखिन देखी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.- 1981, पृष्ठ 43

8 तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद: आलोचना के हाशिए पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2009, पृष्ठ 157

9 http://omprakash.wordpress.com

10 गर्ग, शेरजंग: व्यंग्य का मूलभूत प्रश्न, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण- 2004, पृष्ठ 20

11 तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद: आलोचना के हाशिए पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2009, पृष्ठ 154

12 जनमेजय, प्रेम: कौन कुटिल खल कामी, ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली, प्र.सं.- 2008, पृष्ठ 26

13 जनमेजय, प्रेम: आत्मा महाठगिनी, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1994, पृष्ठ 50-51

14 जनमेजय, प्रेम: लीला चालू आहे, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.- 2015, पृष्ठ 186

15 जनमेजय, प्रेम: पुलिस ! पुलिस !, पराग प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1986, पृष्ठ 30

16 जनमेजय, प्रेम: बेशर्ममेव जयते, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.- 1982, पृष्ठ 36

17 जनमेजय, प्रेम: कौन कुटिल खल कामी, ग्रन्थ अकादमी, सं.- 2008, पृष्ठ 77

18 जनमेजय, प्रेम: बेशर्ममेव जयते, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1982, पृष्ठ 71

19 वही, पृष्ठ 42

20 जनमेजय, प्रेम: कौन कुटिल खल कामी, ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली, सं.- 2008, पृष्ठ 79

21 जनमेजय, प्रेम: राजधानी में गंवार, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.- 1978, पृष्ठ 25

22 वही, पृष्ठ 146

23 जनमेजय, प्रेम: ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग, सामयिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. -2012, पृष्ठ 129

24 जनमेजय, प्रेम: आत्मा महाठगिनी, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1994, पृष्ठ 51

25 जनमेजय, प्रेम: कौन कुटिल खल कामी, ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली, सं.- 2008, पृष्ठ 140

26 उपरोक्त, पृष्ठ 32

27 जनमेजय, प्रेम: ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग, सामयिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 58

28 वही, पृ. 40